अध्याय-16

मिथिला की नारी एवं लोक-कलायें

शिव कुमार मिश्र
एम.ए., पी.एच.डी.
रिसर्च एसोशियेट
बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना

भारत के सांस्कृतिक विकास में मिथिला का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। मिथिला की संस्कृति अति प्राचीन है। यहाँ की धार्मिक एवं लौकिक परम्परा का मुख्य आधार दार्शनिक एवं ऐतिहासिक रहा है। मिथिला के रहन-सहन, रीति-रिवाज, वेश-भूषा एवं लोक-कला (यथा-ऐंपण, भित्तिचित्र जनेऊ कातना, कसीदाकारी, लघु-मृण्मूर्त्तियाँ बनाना तथा सींक एवं मूँज की पौती-चंगेरी या डलिया आदि बनाने की कला) में उपयुक्त तथ्यों का समावेश रहता है। यहाँ की लोक-कलाओं का श्रेय प्रधानतः यहाँ की स्त्रियों को ही दिया जा सकता है जो सभ्यता के आरम्भ से ही इन सभी वस्तुओं को संजोकर रखती आयी हैं। लोक-कला किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक मर्यादा है। इन लोक-कलाओं के पीछे धार्मिक एवं सामाजिक परम्परा भी पायी जाती है।[1] यहाँ अविवाहित कन्या को धार्मिक एवं लौकिक सभी तरह के कार्यों की शिक्षा देने की परम्परा है। कन्या को बड़ी होने के साथ ही जनेऊ कातना, ऐंपण देना, कसीदा काढ़ना, सींक से विविध उत्पादन बनाना तथा देव-पितर से संबंधित गीत सीखना आदि की शिक्षा प्रायः मिलती ही है। कन्या को द्विरागमन[2] के समय जनेऊ, ऐंपण एवं चित्रकारी का कागजी प्रारूप, कसीदा काढ़कर बनायी गई वस्तुएँ, सींक से निर्मित बर्तन, बिरहरा आदि उपहार-स्वरूप प्रदान करने की परिपाटी यहाँ सर्वविदित है। कन्या के पितृकुल की सभ्यता एवं संस्कृति का मापदण्ड इन वस्तुओं के आधार पर ही माना जाता है।

मिथिला में लोक-कलाओं का प्रारम्भ करीब एक हजार वर्ष ई. पू. में हुआ जब लोग सुन्दर बर्तनों एवं रंगीन काले एवं लाल मृण्पात्रों का निर्माण करने लगे।[3] बाद में कुम्हारों ने एक नये प्रकार के बर्तन, जिसे एन.बी.पी. वेयर कहा गया, का निर्माण किया। यह बड़ा ही चमकीला होता था। तत्पश्चात् लाल मृण्पात्र बनाया गया जो पहले से मध्यम दर्जे का था। कुषाण एवं गुप्त कालों में बर्तनों पर छिद्रों या ठप्पों के द्वारा नक्काशी की जाने लगी। इस प्रकार के बर्तन अधिक संख्या एवं आकर्षक रूप में प्राप्त होते हैं। पुरातात्त्विक उत्खननों एवं निरीक्षणों के दौरान मृण्पात्रों के साथ-साथ मृण्मूर्त्तियाँ भी मिलती हैं। इसका भी इतिहास ईसा से एक हजार वर्ष पुराना है। किन्तु मौर्य काल से गुप्त काल तक मृण्मूर्त्ति बनाने की कला का बड़ा विकास हुआ। विभिन्न पुरातात्त्विक स्थलों से हजारों की संख्या में पुरुष एवं महिलाओं की लघुमूर्त्तियाँ तथा विविध आकार के जानवरों एवं पक्षियों की मृण्मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। यह परम्परा मुगलकाल तक रही। लोक-कला का यह उत्कृष्ट प्रमाण है। अनेक प्रकार के मृण्मूर्त्तियों की फलकें भी प्राप्त हुई हैं। साधारणतया मिट्टी के खिलौने एवं

उपयोगी बर्तन बनाये जाते थे। मिथिला में मुख्यत: दो प्रकार की मृण्मूर्त्तियाँ पायी जाती हैं-धार्मिक, यथा-देवता एवं देवियाँ (शिव, पर्वती, गणेश, विष्णु, लक्ष्मी, दुर्गा, काली, सरस्वती, बुद्ध, दुसाध जाति के देवता सलहेश तथा ग्राम-देवता 'ब्रह्म' आदि) और मनोरंजनात्मक यथा-जानवरों के छोटे खिलौने (हाथी, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, चूहा आदि) एवं पक्षी। यह परम्परा आज भी प्रचलित है तथा देहात के ये कलाकार मिट्टी के छोटे खिलौने से बच्चों का मनोरंजन करते हैं तथा आवश्यक उपयोग के लिए बर्तनों का निर्माण करते हैं। सामाजिक एवं धार्मिक कार्य-कलापों में भी अनेक प्रकार के मिट्टी के बर्तनों का उपयोग किया जाता है। विवाह एवं उपनयन आदि के अवसर पर मिट्टी के अन्य बर्तनों के अलावा हाथी, घोड़ा आदि का भी उपयोग होता है।

मैथिल ब्राह्मण एवं कर्ण कायस्थ समाज के वैवाहिक रीति रिवाजों एवं विधिविधानों में समानता है। विवाह में विविध प्रकार की मृण्मूर्त्तियों का उपयोग किया जाता है। इस अवसर पर जब बारात का आगमन होता है तो लड़की सीरी (कुमारी गौर या गौरी) की पूजा सबसे पहले करती है। यह गौरी की लघुमूर्त्ति मिट्टी की बनी होती है जिसे मिट्टी से बनी 'चानडाला', जो मिट्टी से बनी हाथी की लघुमूर्त्ति पर रखी जाती है। इस पूजा के पश्चात् ही विवाह का विधि -विधान आरंभ होता है। मैथिली परम्परानुसार यह हाथी कोहबर[4] के अंदर रखा जाता है जिसकी पीठ पर दो लघुमृण्मूर्त्ति (वर-वधू) रखे होते हैं। कोहबर या कोबर में दुल्हा एवं दुल्हन का प्रतीक दो लघु मृण्मूर्त्तियाँ रखी जाती हैं जिन्हें 'दीपो' कहा जाता है। परिछन (परीक्षण) के समय दुल्हा को ठक-बक (ठग एवं बगुला की लघु मृणमूर्त्ति) दिखाने की परम्परा है। मिट्टी की बनी पुरहर, पातिल एवं दीप की भी आवश्कता होती है।[5] विवाह के पश्चात् प्रथम श्रावण कृष्ण पंचमी (मौना पंचमी) से मधुश्रावणी (शुक्ल तृतीया) तक नवविवाहिता-द्वारा सांपों की पूजा की जाती है जिसे विषहरि कहा जाता है। ये साँप मिट्टी से बनाये जाते है। इनमें पाँच साँपो को चलने की मुद्रा में तथा दो सापों (नाग-नागिन) को चक्र काढ़कर फन उठाए हुए स्थिति में दिखाया जाता है। वैवाहिक विधि-विधानों में इस परम्परा का बड़ा ही महत्त्व है।

मिथिला की लोक-कलाओं एवं परम्पराओं में सामा-चकेवा (श्यामा-चकेवा) का बड़ा महत्त्व है। अनेक मैथिल विद्वानों ने कतिपय कथाओं के द्वारा श्यामा-चकेवा को पौराणिक माना है। एक कथा के अनुसार सामा श्री कृष्ण की कन्या तथा साम्ब की बहन थी। उनकी माता का नाम जाम्बवती था। सामा रात को चारूवक्य मुनि से मिलने जाया करती थी जिसकी सूचना चुगला

नामक व्यक्ति ने श्री कृष्ण को दी। श्री कृष्ण ने क्रुद्ध होकर उसे चकवी पक्षी हो जाने का शाप दे दिया। तत्पश्चात् सामा के वियोग में चारूवक्य अत्यन्त दुःखी हुए एवं भगवान शिव की आराधना कर अपने को चकवा बनने का वरदान मांगा। इस प्रकार दोनों वृन्दावन में रहने लगे। बाद में सामा के भाई ने उनकी कष्ट से मुक्ति के लिए विष्णु की तपस्या की। विष्णु ने उन्हें कार्त्तिक मास के पंचमी तिथि को सामा, चुगला, सप्तऋषि तथा वृन्दावन की मूर्त्तियाँ बनाने तथा पूर्णिमा को विधानपूर्वक सामा की पूजा एवं विसर्जन करने का आदेश दिया। फलतः सामा और चकेवा ने अपने पूर्व अस्तित्व को प्राप्त किया।[6] कार्त्तिक महीने में मिथिलांचल की स्त्रियाँ श्याम-चकेवा की लघु-मृण्मूर्त्तियाँ बनाकर बड़े ही धूम-धाम से पूजती हैं तथा पूर्णिमा के शाम को इन मृण्मूर्त्तियों को खेत में विसर्जित कर इस पर्व को समाप्त करती हैं। लघु-मृण्मूर्त्तियों में श्यामा, चकेवा, ढोलकिया (ढ़ोल बजाने वाला), लडुबेचनी (मिठाई बेचने वाली), झाँझी कुकुर (एक प्रकार भौंकता हुआ कुत्ता), बजनियाँ (बाजा बजाने वाला), सतभैया (सात पक्षियों की लघु-मृण्मूर्त्तियाँ एक साथ), भँवरा, वृंदावन (खढ़ या एक प्रकार की जंगली घास से झाडू के आकार बनाकर उसकी जड़ में मनुष्य जैसा मुखड़ा बनाया जाता है), चुगला, खड़ही भैया (खड़ही के छोटे टुकड़े के दोनों सिरे पर एक-एक मनुष्य की मृण्मूर्त्ति लगायी जाती है) हंसा भैया (दो हंसों की लघु-मृण्मूर्त्तियाँ) आदि प्रमुख रूप से बनाए जाते है। प्रत्येक परिवार की स्त्रियाँ शाम को एक जगह एकत्र होकर लोकगीतों के स्वरों से वातावरण को गुंजायमान कर देती हैं तथा अंत में सामा-चकेवा से खेलती हैं। यह पर्व तथा इसके गीत बड़े ही लोकप्रिय होते हैं। इस प्रकार अनेक पर्वों में स्त्रियों द्वार मृण्मूर्त्तियाँ बनाने की परम्परा है, यथा-हरितालिका पूजा में शिव-पार्वती की लघु-मृण्मूर्त्ति, दुर्गापूजा या अन्य पूजाओं में विविध आकारों के शिवलिंगों की मृण्मूर्त्तियाँ आदि। अतः मिथिला की लोक-कलाओं में मिट्टी के बर्तन एवं मृण्मूर्त्ति बनाने की कला का बड़ा ही महत्त्व है।

मिथिला की लोककलाओं में चित्रकारी का विशिष्ट स्थान है। चित्रकारी के क्षेत्र में मिथिला की नारियों का अनुपम योगदान है तथा आधुनिक विश्व में मिथिला चित्रकारी के लिए अत्यधिक विकसित हुआ है।[7] इस विशिष्ट प्रकार की चित्रकारी का विस्तार कब और कैसे हुआ यह निश्चित रूप से कहना कठिन है किन्तु यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि इसका उद्भव पौराणिक संस्कृति से हुआ। इसका संबंध तांत्रिक सप्रदाय से भी है। मिथिला में भित्ति या दीवार चित्रकारी प्रायः सभी स्त्रियाँ जानती है। यह लोक-कला सदियों से अनेक

बाढ़, अकाल, भूकम्प एवं अन्य कठिनाइयों को झेलती हुई अबाध गति से चलती रही हैं। यद्यपि ये सदियों से उपेक्षित रहीं किन्तु आजकल इसने दुनिया का ध्यान अपनी ओर मुख्य रूप से आकृष्ट किया है। प्रत्येक धार्मिक एवं सामाजिक अवसरों पर यहां की महिलाएं इस कला से अपनी दीवारों को सजाती हैं।

मिथिला की नारियों-द्वारा साधारणतः तीन प्रकार की चित्रकारिता अपनायी गई है-भित्तिचित्र, पटचित्र एवं भूमिशोभा या ऐंपण। इनमें भित्तिचित्र एवं ऐंपण बड़ा ही लोकप्रिय है। ब्राह्मण एवं कायस्थ परिवारों में तीन स्थानों पर भित्तिचित्र बनाने की परंपरा है। गोसाउनिघर (कुल देवता या देवी का घर), कोहबर घर एवं कोहबर घरक कोनिया (कोहबर घर के बरामदा वाली दीवार पर)[8]। भित्तिचित्र की परंपरा अति प्राचीन है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर (चौदहवीं सदी)ने अपनी वर्णरत्नाकर [9] में चित्रकारी के लिए 'विलेपन' शब्द का प्रयोग किया है। विद्यापति ने अपनी 'पदावली' में कोहबर शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर किया है। उन्होंने शसी[10] नामक महिला चित्रकार का उल्लेख किया है। 'गोसाउनिक घर' के दीवारों पर सरोवर चित्र बनाए जाते हैं जिसमें अनेक प्रकार के मछलियाँ, कछुए आदि दिखाए जाते हैं। रंगीन हाथों के चित्र भी बनाए जाते हैं। 'गोसाउनिक घर' के प्रवेश-द्वार पर विविध प्रकार के रंगीन हाथों, जिसमें विविध प्रकार के फूल होते है, के चित्र बनाने की परंपरा है। लेकिन कोहबर घर के भीतरी दीवार पर अधिक चमकीले चित्र बनाए जाते हैं। इस चित्रकारी का कार्य प्रायः वृद्ध महिलाओं द्वारा सम्पादित किया जाता है। इन चित्रों में चार महिलाओं का चित्रण, जिसे नयनायोगिन कहा जाता है, बड़े ही लोकप्रिय हैं। इनके अतिरिक्त कमलपुष्प एवं कमल पत्र (इसे पुरैन कहा जाता है), खड़रवड़िया (पालकी), महका (एक प्रकार की छोटी पालकी), घोड़ा, हाथी, मयूर, हंस, पान, बांस सूर्य, चन्द्रमा, गणेश, शिव, पार्वती, लक्ष्मी आदि के चित्र बनाए जाते हैं। इनमें से प्रत्येक चित्र का अपना अलग-अलग महत्त्व है यथा-सूर्य एवं चन्द्रमा का दीर्घ जीवन के लिए, हंस एवं मयूर का कल्याण एवं शान्ति के लिए, पान एवं कमल का शुभ लक्षण के लिए, बाँस का वंश-वृद्धि के लिए विशेष महत्त्व है। कोहबर के बरामदा की दीवार पर मिथिला के ग्रामीण जीवन को चित्रित करने की परम्परा है, यथा-महाका तथा पालकी उठाए हुए कहार, फलों के वृक्ष, आम, केला, नाचता हुआ मयूर, कृष्ण एवं गोपियों के बीच प्रेमालाप का दृश्य, भरिया[11] आदि। इनके अलावे वर-वधू, राम, सीता, जनक, दशरथ, कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि को भी चित्रित

करने की परंपरा है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि मिथिला में कोहबर को सुन्दर चित्रकारी द्वारा सजाने की कला उतनी ही प्राचीन है ज़ितना कि समाज। एक परम्परा के अनुसार यहां की कन्याएँ ससुराल जाते समय अपने साथ भित्तिचित्र का कागजी प्रारूप या खाका अवश्य ले जाती हैं जिससे उन्हें पारंपरिक चित्रकारी सीखने में दक्षता प्राप्त होती है।

मिथिला-चित्रकारी में अनेक प्रकार के चमकीले रंगों का उपयोग होता है जिसे बकरी के दूध में मिलाकर तैयार करने की परंपरा है। रूई, फटे कपड़े, ऊनी कम्बल आदि को बांस की छोटी छड़ी में पुआल या सूती धागे से बाँध कर कूचियाँ बनाई जाती है। रंग घर में तैयार किये जाने की परम्परा है, यथा-धुआँ एवं कालिख से काला रंग, केले के पत्ते, दूध एवं चूने को मिलाकर पीला रंग, कुसुम फूल के रस से लाल रंग एवं हरे पत्तों से हरा रंग आदि।[12] किन्तु आजकल इन परंपरागत रंगों के स्थान पर रासायनिक रंगों को ही व्यवहार में लाया जाता है। पिछले वर्गों की महिलाएं भी अपनी घरों के बाहरी दीवारों को विविध प्रकार के चित्रों से सजाती हैं। इस क्षेत्र में अधिकतर 'भीत' (कच्ची मिट्टी से निर्मित दीवार) के घर हैं जिन्हें चिकनी मिट्टी से पोतकर चूना, गोबर, कालिख, हल्दी, गेरू आदि विविध रंगों से चित्रित किया जाता है।

यद्यपि मिथिला पूर्वी भारत में सबसे प्राचीन आर्य सभ्यता का केन्द्र है फिर भी यहां के अधिकतर लोग शिव एवं शक्ति के उपासक हैं। यहाँ के सभी धार्मिक एवं सामाजिक समारोहों में एक प्रकार की चित्रकारी की अनिवार्यता होती है जिसे ऐंपण कहा गया है। ब्रह्मपुराण[13] में इसके लिए 'भूमि-शोभा' तथा नैषधचरित[14] में 'आलेपन' शब्द का उल्लेख मिलता है। मिथिला में जन्म से मृत्यु तक कोई भी सामाजिक क्रिया-कलाप चाहे छोटा से छोटा ही क्यों न हो, ऐपण के बिना संभव नहीं है।[15]

ब्राह्मण एवं कायस्थ परिवार की स्त्रियों के लिए ऐंपण एक वंशानुगत एवं संस्कृतिक धरोहर है। यह 'पिठार' (चावल को भिगाकर एवं पीसकर बनाया जाता है) के द्वारा ऊँगली या लकड़ी की छोटी छड़ी की सहायता से बनायी जाती है। इसमें किसी-किसी निश्चित स्थानों पर सिन्दूर भी लगया जाता है। ऐंपण विभिन्न समारोहों में भिन्न-भिन्न आकार एवं प्रकार में बनाए जाते हैं। इसकी पृष्ठभूमि में तान्त्रिक प्रभाव भी हैं, यथा-लाल चिह्न भगवती एवं तीन भीतरी त्रिकोण गौरी के प्रतीक को दर्शाता है। इसे पूजा स्थल, समारोह स्थल, पीढ़ा एवं कागज पर बनाया जाता है। कोहबर में सात बार ऐंपण बनाए जाते

हैं जिसमें मछली, बॉस, तालाब आदि दर्शाए जाते हैं। विवाह, चतुर्थी, द्विरागमन, मुण्डन, उपनयन आदि में इसकी अनिवार्यता सर्वव्यापी है। लड़की की शादी में महुऊक का ऐंपण बहुत लोकप्रिय है। ऐंपण के कुछ महत्त्वपूर्ण एवं लोकप्रिय प्रकार निम्नलिखित हैं: 1. कोहबर 2. महुअक, 3. चतुर्थी संस्कार[16] के अवसर पर नवग्रह का ऐंपणा, 4. द्विरागमन में कोरव ऐंपण, 5. मुण्डन के अवसर पर पुरैन पात (कमल पत्र) का ऐंपण 6. श्रावण में मधुश्रावणी के अवसर पर गेहुअन सॉप का ऐंपण, 7. गणेश चौथ में सूर्य एवं चन्द्रमा का ऐंपण, 8. आश्विन संक्रान्ति (गबहा संक्रान्ति) में कक्वा ऐंपण, 9. दशहरा के नवमी को दुर्गा ऐंपण, 10. दशहरा के सप्तमी को भगवती के आगमन पर दुर्गाघर के प्रांगण, बरामदा एवं पूजा स्थल पर ऐपण, 11. देवोत्थान एकादशी को चौसनिख ऐंपण, 12. भ्रातृद्वितीया को पटवा, 13. दीपावली के अवसर पर केलाथम्ह (इसे सुखरात्रिका ऐंपण भी कहा जाता है। इसमें हल, बैल, हलवाहक, भैंस, गाय एवं घर की सभी प्रमुख वस्तुओं का ऐंपण बनाने की परंपरा है), 14. अग्रहण में नवान्न के अवसर पर चन्द्रमा-सूर्य का ऐंपण (इस पर्व में ऐंपण पर ही अग्नि प्रज्वलित कर नये अन्न का हवन देने की परम्परा है) 15. वसन्त पंचमी के अवसर पर हर-हरवाह (जोड़ा बैल, हल एवं हलवाहक का ऐंपण), 16. अधि कतर धार्मिक अवसर पर अष्टदल बनता है, 17. स्वस्तिक या पृथ्वी (स्वस्तिक ऐंपण में 41 स्वस्तिक एक दूसरे से जुड़े रहते हैं), 18. दशपात ऐंपण, 19. षष्ठिपूजा ऐंपण, 20. चौठचन्द्र का ऐंपण (यह पर्व भाद्रशुक्र चतुर्थी को होता है), 21. तुसारी पूजा का ऐंपण 22.. कोजागार[17] ऐंपण (इसमें मखाना के पत्ते का व्यवहार होता है) आदि।

इस प्रकार मिथिला के सार्वजनिक जीवन से ऐंपण का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। विभिन्न संस्कारों एवं समारोहों में इसका महत्त्व अनुपम है। वैदिक[18] सर्वतोद्भव या स्वस्तिक के ऐंपण को मिथिला की स्त्रियाँ आज भी मूलरूप से संजोकर रखे हुई हैं। ऐंपण के आकारों पर तंत्र का बड़ा प्रभाव है किन्तु प्राकृतिक दृश्यों का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है, यथा-फूल, पत्ते, पेड़, मछली, मयूर, साँप, सूर्य एवं चंद्रमा, देवी एवं देवता, हलवाहक, भरिया आदि। अनंतपूजा, सत्यनारायणपूजा आदि में भूमि पर ऐंपण के साथ-साथ उस पीठा पर भी ऐंपण होता है, जिसपर जलपात्र रखकर भगवान की पूजा की जाती है। किसी-किसी समारोह में ऐंपण पर दीप जलाने एवं भोजन करने की भी प्रथा है। परम्परानुसार आंगन से गोसाउनिक घर तक ऐंपण बनाया जाता है जिसमें बीच-बीच में भगवती के पैर के प्रतीक चिह्न भी बनाए जाते हैं। इस प्रकार

मिथिला के लोकजीवन में ऐंपण का बड़ा महत्त्व है।

मिथिला की लोक-कलाओं मे सीकी उपादान बनाने की कला बड़ा लोकप्रिय है। इस कला के अन्तर्गत सींक एवं मूँज से विविध प्रकार के सुन्दर बर्तन बनाने की परंपरा मिथिला की नारियों के मध्य अत्यंत विशिष्ट रूप से पायी जाती है। इस लोक-कला का आधुनिक विश्व में अत्यधिक महत्त्व बढ़ गया है। इसने भी संसार को अपनी ओर आकृष्ट किया है। सीकी खढ़ (एक प्रकार की जंगली घास) तथा मूंज घास को चीर कर बनाया जाता है। इसे सुखा कर विविध रंगों यथा-लाल, नीला, श्वेत, बैंगनी, नारंगी, पीला, हरा एवं काला आदि रंगों में रंगा जाता है। इन सभी रंगों के पीछे अलग-अलग दार्शनिक तथ्य हैं। लाल, नीला एवं श्वेत रंग क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण अथवा सृष्टि (ब्रहम), स्थिति (विष्णु) एवं प्रलय (शिव) का बोध कराता है।[19] संस्कृत काव्यालंकार शास्त्र के अनुसार लाल रंग शान्ति, करुण एवं वात्सल्य का और श्वेत रंग अद्‌भुत्, बीभत्स एवं रौद्र रस का बोधक है।[20] लाल रंग हृदय में शक्ति, देश प्रेम एवं धार्मिक अनुराग उत्पन्न करता है।[21] नीला रंग सत्य का प्रतीक है तथा मन को पारलौकिकता की ओर ले जाता है। यह स्वच्छ, शीतल एवं शुद्ध होता है। नारंगी रंग बलवर्द्धक है। इससे जीवन एवं शक्ति का संचार होता है। बैगनी रंग रहस्यमय एवं धार्मिक बलिदान की प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है तथा काल्पनिक एवं स्वप्निल भाव को जगाता है। यह मनुष्य को माया-मोह-रहित, निश्चेष्ट, क्षणभंगुर तथा विस्तारोन्मुख करता है। पीला रंग ज्योति का द्योतक है। इससे पवित्रता, ज्ञान तथा धार्मिकता का बोध होता है। इससे मन का पाप, अधर्म, अशान्ति एवं रोग नष्ट होता है। हरा रंग शीतलता, स्फूर्ति तथा पुनर्जीवन की ज्योति को जगाता है। यह रंग बलवर्द्धक एवं नवशक्ति का संचार करता है।[22] काला रंग निराकार शून्य का बोधक है।[23] इस प्रकार सीकी-उपादान में प्रयुक्त प्रत्येक रंग की अपनी सांस्कृतिक परम्परा एवं दार्शनिक तथ्य हैं। आरम्भ में यहाँ की महिलाएं विविध प्रकार के वृक्षों के पत्ते, फूल एवं अन्य घासों से मनोनुकुल रंग बनाती थीं किन्तु आजकल इसके लिए भी रासायनिक रंगों का ही प्रयोग किया जाता है।

सीकी उपादान के निर्माण हेतु एक टकुआ एवं एक छड़ी की आवश्यकता होती है जिसकी सहायता से महिलाऐं सुन्दर एवं भावात्मक उपादान का निर्माण करती है। इस लोक-कला में प्रधानतः धार्मिक एवं दार्शनिक तथ्यों का समावेश रहता है जिसकी कार्यकुशलता में सूक्ष्मता की अपेक्षा भावना का प्राबल्य अधि क पाया जाता है। मिथिला की नारियाँ इस कला के माध्यम से चन्द्रमा, सूर्य,

शिव, राधा, कृष्ण, पार्वती, गणेश आदि देवता की आकृतियाँ बनाती हैं। इसके अतिरिक्त तन्त्र-मन्त्र से संबद्ध कालचक्र, भैरवचक्र, अष्टदलकमल, शंख-चक्र, स्वस्तिक आदि भावात्मक वस्तुओं का निर्माण भी सीकी के द्वारा होता है। सीकी के उपादानों में कुछ ऐसे भी हैं जिनका उपयोग दैनिक जीवन में होता है। इनमें पौती, मौनी, चंगेरी, धूथरी आदि प्रमुख हैं। विविध प्रकार की चंगेरियों में अतिथि को जलपान देने की प्रथा यहां प्रसिद्ध है। पौती एवं चंगेरियों में अनेक प्रकार के सामान यथा मसाले, सूखे फल, जनेऊ, जनेऊ के सूत से भरी हुई टुकड़ी या तकली आदि कन्या को द्विरागमन के समय देने की परंपरा है। ये पौती एवं चंगेरी की आकृति विविध प्रकार की रहती है जिन्हें पौती, विरहरा पौती, मन्दिर पौती तथा फूलिया चंगेरी, पान-चंगेरी आदि कहा जाता है। इन सीकी उपादानों में बेल-बूटों के साथ अनेक प्रकार के ज्यामितिक आकार यथा-त्रिकोण, वृत्त, आयत, वर्ग तथा पशु-पक्षी के ग्राफिक्स यथा-तोता, मैना, मयूर, गाय, बाघ, भालू, हाथी, घोड़ा, आदि पाए जाते हैं जिनका अपना-अपना अलग दार्शनिक तथ्य रहता है।[24] इस प्रकार इस लोक-कला के सूक्ष्म पर्यवेक्षण से ज्ञात होता है कि मिथिला के उन्मुक्त जीवन एवं संस्कृति में सीकी के उपादान के निर्माण की कला की प्राचीन परम्परा आज भी सुरक्षित है। सीकी के प्रसंग में एक लोकगीत की निम्नलिखित पंक्तियां जो विद्यापति-रचित मानी जाती हैं, बड़ी ही रोचक हैं:-[25]

सीकी चीरए नहि हम जायव सजनी गे।
सीकी नहि छोड़त परान सजनी गे।।
मेंही-मेंही सिकिया बिछि-बिछि गिरलहुँ।
सुन्दर बने तहुँ फूल-डालि सजनी गे।।
भनहि विद्यापति सुनु सभ सखिया।
करवन पुरत मन आश सजनी गे।।

मिथिला में कसीदा की परंपरा भी बहुत पुरानी है। कसीदा कपड़ा पर रंगीन धागों के द्वारा सुई से बनाया गया एक प्रकार का साज-श्रृंगार का सामान है जिसका उद्देश्य लोक-जीवन की उपयोगिता से है। प्राचीन साहित्यों में कसीदा का उल्लेख मिलता है। वाजसनेयी-संहिता[26] तथा ऐतरेय ब्राह्मण[27] में 'पेशस' शब्द का उल्लेख है जिसका तात्पर्य कसीदाकारी से है। जातक[28] में एक ऐसे समाज की चर्चा है जो इस कार्य में लगा रहता था तथा वह पेसकरसिप्प के

नाम से विख्यात था। चुल्लवग्ग[29] में बौद्ध भिक्षु के लिए कसीदाकारी वाले वस्त्र को धारण करना निषिद्ध माना गया है। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र[30] में 'सूचीवानकर्म' शब्द का प्रयोग किया है जिसका तात्पर्य सूचीकर्म्म[32] है। ज्योतिरीश्वर ने भी अपने चौसठकला वर्णन में 'सूचीकर्म्म' का उल्लेख किया है। मिथिला में कण्णटि एवं ओइनवार वंश के शासनकाल में इस लोक-कला का बड़ा विकास हुआ किन्तु खण्डवला वंश के शासनकाल में यह लोक-कला अपनी विकास की चरम-सीमा पर थी।

मिथिला की गरिमा अपने निजी उपयोग के लिए कसीदाकारी रही है। साधारणतः दैनिक जीवन में व्यवहार आने वाला पोशाक यथा-साड़ी, चोली, ओढ़नी, बच्चे की टोपी, तकिया-खोल, मसनद- खोल, जाजिम आदि में कसीदा होती रही है। कसीदा के अनेक भेद हैं यथा-घेंचुआ, भरीत तथा तगनुआ। मिथिला में 'घेंचुआ' कसीदा के और अधिक प्रकार हैं यथा-झींजली, भीक्कू, टेचू आदि। इस कसीदा में जंगीरदार रूप में टांका पड़ता है। घेंचुआ शब्द संभवतः 'केचुआ' शब्द का विकृत रूप है जिसका तात्पर्य कुटिलाकृति से है। 'भरीत' कसीदा मिथिला में बड़ा लोकप्रिय है जिसमें अनेक प्रकार की ज्यामितिक आकृति रहती है।[32] ग्रामीण महिलाएं इस कसीदा को कपड़े के सम्पूर्ण ऊपरी सतह पर व्यवस्थित करती हैं। यह कार्य धीरे-धीरे सम्पन्न होता है क्योंकि यह बहुत कठिन कला है। इस कसीदा के लिए सर्वप्रथम कपड़ा पर आकृति का खाका खींचा जाता है। तत्पश्चात् खाके की काले धागे से सिलाई होती है तथा विविध रंगों के धागों से इसे भरा जाता है। कसीदाकारी में मकई के छोटे दाने को भी उपयोग में लाया जाता है जो शीशे की तरह चमकता है। मिथिला में कसीदाकारी की विषय-वस्तु दार्शनिक तथ्य पर आधारित प्रधानतः आलंकारिक रहती है। इसमें विभिन्न प्रकार के ज्यामितिक स्वरूप (उर्ध्व, समानान्तर एवं कोणीय आकार) रहते हैं। इन आकारों में प्रधानतः चतुर्भुज, त्रिभुज, वर्ग, वृत्त, कोण, अष्टकोण आदि रहते हैं। इसके अतिरिक्त कसीदा के चित्रों में हंस, तोता, मछली, मयूर, हाथी, घोड़ा, बाघ आदि रहते हैं जिनका अलग-अलग दार्शनिक महत्त्व है। वनस्पति से सम्बन्धित चित्र यथा कमल के फूल, तुलसी का पौधा, आम्रकुँज आदि भी बनाए जाते हैं। इनके अतिरिक्त कसीदा चित्र में आध्यात्मिक चित्र भी रहते हैं। एक चित्र में विश्व की उत्पत्ति एवं विकास को प्रदर्शित किया गया है। इस चित्र में सबसे ऊपर पुष्प-सहित वृक्ष, उसके बाद पक्षी, जीव-जन्तु, उसके बाद मनुष्य का चित्र दिखाया गया है। एक अन्य कसीदा में मनुष्य एवं पशु की आकृति साथ-साथ दिखलायी गई है।

कसीदा में मँहफा, वर-वधू, कमल-पुष्प, घुड़सवार आदि भी दर्शाया जाता है।[33] इनके अतिरिक्त देवी-देवताओं यथा-राम, सीता, हनुमान, सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा, काली आदि को भी कसीदा काढ़कर बनाया जाता है जिसमें शीशा एवं फ्रेम लगवाकर घर को सजाया जाता है।

मिथिला में सुजनी बनाने की कला भी बड़ी अनोखी है। यहाँ की महिलाएं फटी-पुरानी धोती, साड़ी आदि की चारों किनारी को सीकर एवं बीच वाले भाग में विविध रंगों के धागे से कलात्मक सिलाई हाथ से करके बनाती हैं। धागे के रूप में पढ़िया साड़ी के किनारे के सूत को उपयोग में लाया जाता है। सुजनी पर बनायी जाने वाली आकृतियों में विविध प्रकार के फूल, गुलदस्ता, विविध पशु एवं पक्षी (कबूतर, तोता, मुर्गा, मछली, साँप, बाघ, गाय, हाथी, घोड़ा) आदि लोकप्रिय हैं। सुजनी का उपयोग दैनिक जीवन में बिछावन के रूप में किया जाता है।

यद्यपि भारत में जनेऊ (यज्ञोपवीत) तैयार कराने की प्रथा बड़ी प्राचीन है किन्तु मिथिला की स्त्रियाँ जिस कलात्मक ढंग से इसे तैयार करती हैं, वह अनोखी है। यहाँ की जनेऊ इतनी सुन्दर एवं पतली होती है कि एक छोटी इलाइची के छिलके में आराम से एक जोड़ा जनेऊ आ जाती हैं। जनेऊ के लिए बाङ् (रूई) को बड़ी बारीकी से धुनकर 'पीर' (पूनी) बनायी जाती है। पूनी लेकर तकली तथा ऊँगली की मदद से बहुत पतला सूत (धागा) कात लिया जाता है। बाद में इसके लिए चरखों को भी उपयोग में लाया जाने लगा। तकली या चरखे के टकुओं से सूत उतारने के लिए जमीन पर लकड़ी की खूटियां ठोकी जाती हैं। नौ-नौ की संख्या में सूतों को एक जगह करके एक निश्चित लम्बाई के माप की बनायी जाती है। इन्हें रीठा (एक जंगली फल) से साफ किया जाता है। आजकल इसके लिए साबुन का भी उपयोग होता है। सूखने के बाद विविध रंगों (यथा-पीला, नारंगी, लाल, गुलाबी) में रंग लिया जाता है। इन रंगों को हल्दी आदि से घरेलू विधि द्वारा तैयार किया जाता है। आजकल रासायनिक रंग उपयोग में आने लगे हैं। रंगहीन अथवा श्वेत जनेऊ भी तैयार किया जाता है। इन रंगहीन एवं रंगीन जनेऊ को घड़े के कन्धे में लगाकर मखाना, दूध आदि से नारियल के छिलके या पुआल की मदद से सोंटा जाता है जिससे जनेऊ कड़ा होता है। सोंटने के बाद लकड़ी की खूंटियों में टांगकर सुखाया जाता है। सूखने के बाद इन्हें अंगुलियों के द्वारा समेट कर बाँध लिया जाता है। रंगीन जनेऊ को द्विजवर्ण के लोग उपनयन के पश्चात् आजीवन पहनते हैं तथा वे इनका देव-कार्यों में उपयोग करते हैं। उजले जनेऊ का उपयोग

पितृकर्म यथा-श्राद्ध, वार्षिक श्राद्ध आदि में होता है। द्विरागमन के समय कन्या को सीकी के पौती में जनेऊ देने की परंपरा भी है। यहाँ किसी भी अतिथि को विदाई के समय जनेऊ उपहारस्वरूप प्रदान करने की परंपरा है। आधुनिक काल में इस कला में बहुत ह्रास हुआ है। अब अधिकतर स्त्रियाँ सूत कातना नहीं चाहतीं बल्कि जुलाहों द्वारा मशीन से तैयार किये गये सूतों का प्रयोग करती हैं।

मिथिला की लोक-कलाओं में गोदना एवं मेंहदी भी बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। गोदना का इतिहास प्राचीन है। नट जाति की महिलाएं गाँव-गाँव घूमकर महिलाओं के शरीर पर गोदना बनाती हैं। गोदना के लिए एक विशेष प्रकार का काला रंग एवं सूई का उपयोग होता है। यह रंग स्थायी रूप से शरीर पर अंकित हो जाता है। महिलाएं अपने हाथ, बाँह, पैर, गरदन, ललाट आदि में गोदना गोदवाती हैं। कुछ पुरुष भी अपने हाथ पर गोदना गोदवाते हैं। महिलाएं अपनी कलाई पर फूल, फूल का पौधा, बाँह पर बाजूबंद, गरदन में हार या हँसुली, पैर में कारा तथा पायल आदि की आकृति बनवाती हैं। इनके अतिरिक्त अपने एवं अपने पति का नाम भी गोदवाती है। कलाई तथा हाथ पर देवी-देवताओं के भी चित्र गोदवाती हैं। अब इस लोक-कला का बहुत ह्रास हो गया है तथा अधिकतर स्त्रियाँ गोदने को हेय समझकर अपने को अलग रखती हैं। यहाँ की स्त्रियाँ मेंहदी के पत्ते को पीस कर अपनी तलहथी को विविध रूपों से सजाती हैं। इनमें फूलों, डालियों आदि की आकृतियाँ बनायी जाती हैं। विवाह में कन्या के तलहथी पर मेंहदी लगाने की परंपरा बड़ी लोकप्रिय है। अन्य अवसरों तथा बरसात के समय में मेंहदी का उपयोग अधिक होता है।

इन लोक-कलाओं के अतिरिक्त मिथिला में एक बड़ा ही मनोरंजक लोक-नृत्य-गीत है जिसे जट-जटिन के नाम से जाना जाता है। इसमें मात्र स्त्री ही पात्रों का कार्य करती हैं, गीत गाती हैं तथा प्रेक्षक भी रहती है। इसमें एक तरफ तो दाम्पत्य-जीवन का मार्मिक पक्ष उभड़ता है जो न तो पौराणिक कथा में और न ही प्रेमाख्यान में उपलब्ध है और दूसरी ओर इसमें दार्शनिक तथ्य सन्निहित है जिसका सम्बन्ध मूलतः तंत्र से है। जट-जटिन के आयोजन का उद्देश्य प्रधानतः वर्षा के निमित्त होता है। सावन-भादों के शुक्ल पक्ष की रात को विशेष तौर पर इसका आयोजन किया जाता है। इस जट एवं जटिन से संबंधित दो वर्गों में स्त्रियाँ विभक्त हो जाती हैं। एक पुरुष वेशधारी स्त्री जट पात्र का अभिनय करती है। जट-जटिन में बंका और भकुली के विवाह नाम से जट और जटिन का प्रणय- सम्बन्ध होता है। इस अभिनय के उपरान्त स्त्री

के द्वारा हल चलाने की परंपरा है। तत्पश्चात् मेढ़क को कूटकर उस औरत के घर पर फेंका जाता है जो गाली-गलौज करने में विख्यात रहती है। इस प्रकार यह अभिनय समाप्त होता है जिसका संबंध पूर्णतः कृषि से है।[34] इस लोक-कला से संबंधित अनेक गीत मिथिला में बड़े ही लोकप्रिय हैं। इस लोक-कला में विशेषकर पिछड़ी जातियों की महिलाओं द्वारा अभिनय करने की परंपरा है।

इस प्रकार मिथिला की लोक-कलाओं को जीवित रखने में यहाँ के सभी वर्ग की स्त्रियों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। यद्यपि कुछ लोक-कलाओं का तीव्रगति से ह्रास हो रहा है किन्तु कुछ लोक- कला यथा-चित्रांकन, कसीदा काढ़ना, सीकी उपादान आदि के क्षेत्र में बड़ा निकास हुआ है। आर्थिक दृष्टि से भी इन कलाओं का महत्त्व बढ़ गया है जिसका प्रमुख कारण है दुनिया के लोगों का इस ओर आकर्षित होना। यह इन लोक-कलाओं के विकास के लिए शुभ संकेत है। विश्व-बाजार में इसकी मांग बढ़ने से मिथिला की आर्थिक स्थिति पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। मिथिला चित्रकला से संबंधित एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि सदियों से इस कला को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में बिना किसी परिवर्तन के अबाध गति से महिलाओं द्वारा स्थानान्तरित किया जाता रहा है जिससे उसके मूल स्वरूप में किंचित् मात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ है किन्तु इस चित्रकला का व्यवसायीकरण होने के कारण इसके मूल स्वरूप में धीरे-धीरे परिवर्तन होता जा रहा है। इस लोक-कला पर अन्य कलाओं का प्रभाव पड़ता जा रहा है जिससे इसके मूल स्वरूप में विकृतियाँ आ रही हैं। व्यवसायिक महत्त्व बढ़ने के कारण अनेक कलाकार इस चित्रकारी की ओर आकर्षित हो रहे हैं किन्तु इनमें उन कलाकारों की बहुलता है जिन्हें मिथिला की संस्कृति एवं दार्शनिक तथ्यों की सही रूप से जानकारी नहीं है। फलतः वे मूल चित्रांकन में परिवर्तन कर विभिन्न शैलियों को समाविष्ट कर रहे हैं। उदाहरण स्वरूप, मिथिला-चित्रकला में मनुष्य के नाक, आँख एवं मुँह की आकृति एक विशेष शैली में बनाने की परंपरा है किन्तु ये नये कलाकार इसमें परिवर्तन कर आधुनिक स्वरूप दे रहे हैं तथा विविध रासायनिक रंगों को प्रयुक्त कर रहे हैं जिससे इस कला का मूल स्वरूप नष्ट हो रहा है। ऐसा लगता है कि इन बाहरी शैलियों के प्रभाव के कारण निकट भविष्य में मिथिला की यह परंपरागत लोक-कला अपना मूल स्वरूप विनष्ट कर देगी और संसार की दृष्टि में इसका अनोखापन समाप्त हो जाएगा। लेकिन यदि मिथिला की ही नारियाँ, जो यहाँ की संस्कृति एवं सभ्यता से पूर्ण अवगत होती हैं, परंपरागत रूप में इन

लोक-कलाओं को बनाये रखें तो इनका महत्त्व बढ़ता ही जाएगा।

सन्दर्भ

1. वाचस्पति गैरोला, *भारतीय चित्रकला*, सं. श्री कृष्ण दास, इलाहाबाद, 1963, पृ. 249

2. ब्राह्मण एवं कर्ण कायस्थ परिवार की कन्या इस समारोह के द्वारा अपनी रीति के अनुसार एक निश्चित अवधि के पश्चात् शुभ दिवस में पहले-पहल ससुराल जाती है।

3. दयाशंकर उपाध्याय, 'फोक-आर्ट ऑफ बिहार', *बिहार इन फॉक-लोर स्टडी*, सं., शंकर सेन गुप्ता, कलकत्ता, 1971, पृ. 83-85

4. इस घर में विवाह के बाद वर-वधू अपनी रीति के अनुसार तीन या चार दिन एवं रात अर्थात् चतुर्थी संस्कार तक ठहरते हैं

5. उपेन्द्र ठाकुर, मधुबनी पेन्टींग, नई दिल्ली, पृ. 87

6. राजेश्वर झा, *श्यामा-चकेवा*, पटना, 1972, पृ. ग एवं घ

7. *जर्नल ऑव दि बिहार रिसर्च सोसायटी*, पटना, 63-64, पृ. 484

8. *मार्ग*, बम्बई, XX (1966) नं. 1, पृ .46

9. *वर्णरत्नाकर*, सुमित कुमार चटर्जी एवं बबुआ मिश्र (सं.) एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, 1940, 23 ख

10. *पुरुष परीक्षा* (सं.) जी. ग्रियर्सन, लंदन, 1935, पद्य-21

11. एक व्यक्ति विशेष, जो खाने की वस्तुओं यथा-मछली, दही, चूडा, केला आदि तथा वस्त्र आदि को लेकर दूल्हा के परिवार से दुल्हन को तथा दुल्हन के परिवार से दुल्हे को पहुँचाता है।

12. *जर्नल ऑव दि बिहार रिसर्च सोसाइटी*, 54, 311

13. *ब्रह्मपुराण*, आनंदाश्रम ग्रंथावलि : पूना, 1895, 18, 12

14. *नैषध चरित*, 11, 26

15. *जर्नल ऑव दि बिहार रिसर्च सोसायटी* 63-64, 484-85

16. ब्राह्मण एवं कर्ण कायस्थ परिवार में विवाह के तीन या चार दिन के बाद पुनः सभी विधि-विधान से विवाह होता है जिसे चतुर्थी कहा जाता है।

17. कोजागरा उपर्युक्त दोनों वर्गों का महत्त्वपूर्ण पर्व है जिसे विवाह के प्रथम वर्ष में आश्विन पूर्णिमा को मनाया जाता है।
18. उपेन्द्र ठाकुर, *मधुबनी पेन्टींग*, पृ. 41
19. असित कुमार हलदार, *भारतीय चित्रकला*, चन्द्रलोक इलाहाबाद, 1959, पृ. 58
20. किशोरी लाल वैद्य एवं ओमचन्द हाण्डा, *पहाड़ी चित्रकला*, पृ. 42
21. रामचन्द्र शुक्ल, *कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ*, सूचना विभाग, लखनऊ, 1958, पृ. 74-75
22. वही
23. एलेन डैनिएलो, *हिन्दू पोलीथेइज्म*, पृ. 158
24. *मिथिला भारती*, मैथिली साहित्य संस्थान, पटना, अंक 1 (1969), पृ. 95-99
25. *वही*, पृ. 100
26. *वाजसनेयी* संहिता, सं. ए. बेबर, लंदन, 1852, 30, 2
27. *ऐतरेय ब्राह्मण*, सं. के.एस. अगासे, आनंदाश्रम ग्रंथावलि : पूना, 1876, 3, 10
28. *जातक*, ई. वी. कॉवेल, कैम्ब्रिज, 1895-1913, भाग 4, पृ. 251
29. *चुल्लवग्ग*, 5, 29, 2
30. *कामसूत्र*, सं. माधवाचार्य, लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, शाके-1856, 1. 3.15
31. वर्णरत्नाकार, 34 ख
32. *जर्नल ऑव दि बिहार रिसर्च सोसायटी* 56, 246-247
33. *मिथिला भारती*, अंक-3, (1971), पृ. 75
34. राजेश्वर झा, *जट-जटिन*, मैथिली साहित्य संस्थान, पटना, 1971, प्राक्कथन

युगयुगीन भारतीय नारी



युगयुगीन भारतीय नारी

सम्पादक
डॉ. चन्द्र मोहन अग्रवाल
एम.ए. (गोल्ड मेडलिस्ट), पी.एच.डी., डी.लिट्.
इतिहास विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय
परिसर अल्मोड़ा, उत्तर प्रदेश (भारत)

2000
इण्डियन पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स
दिल्ली

विषयानुक्रमणी